छायावाद का विकास प्रगतिवाद के रूप में

स्नातक भाग-3
हिन्दी (प्रतिष्ठा)
पंचम पत्र

छायावादी कविता पर प्रायः पलायनवाद का आरोप लगाया जाता है, लेकिन छायावादी कविता अपने उत्तरार्द्ध में कल्पना के धरातल से उतरकर जीवन और जगत के व्यापक यथार्थ से जुड़ने की कोशिश करती है। यही कारण है कि आचार्य शुक्ल प्रसाद की 'लहर' और पंत के 'गुंजन' के प्रकाशन पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि - " यह देखकर प्रसन्नता होती है कि छायावाद के घेरे से निकलकर पंत जी ने जगत की विस्तृत अर्थभूमि में स्वाभाविक स्वच्छन्दता के साथ विचरने का साहस दिखाया है।" पर लगे हाथ आचार्य शुक्ल यह सलाह देना भी नहीं भूलते - " पंत जी के लिए बेहतर होगा अपनी लोकमंगल की भावना को

②

स्वाभाविक कर्म पथ पर ले चलना न कि अपनी वाणी को केवल काव्यांदोलन के पीछे लगाना।" निराला से शुक्ल जी को कभी विशेष शिकायत नहीं रही क्योंकि उनकी कविता का क्षेत्र पहले से ही विस्तृत था।

पंत जी 1936 ई० में 'युगान्त' की रचना कर छायावाद के अंत की घोषणा करते हैं और 1937 में 'युगवाणी' लिखकर प्रगतिवाद को युग की वाणी के रूप में प्रचारित करने की कोशिश करते हैं। 1938 में पंत जी के संपादन में 'रूपाभ' पत्रिका का प्रकाशन होता है जिसे प्रगतिवाद का घोषणा-पत्र माना जाता है। इसमें पंत जी ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की — "इस युग की कविता सपनों में नहीं पल सकती, इसलिए अपने पोषण के लिए उसकी जड़ें कठोर धरती का आश्रय ले रही हैं।"

पंत जी की कविता 'बापू के प्रति' में पंत जी को छायावादी सौंदर्य चेतना से मुक्त होकर वैचारिक जगत् में प्रवेश करते देखा जा सकता है!—

"साम्राज्यवाद था कंस, बंदिनी मानवता पशु बलाक्रांत
शृंखला दासता, प्रहरी बहु
निर्मम शासन पद 'शक्ति भ्रांत',
कारागृह में दे दिव्य जन्म।"

यहाँ पर पंत जी को छायावादी कल्पनाशीलता से दूर हटकर युग जीवन के यथार्थ से टकराते हुए देखा जा सकता है। अब तक अनुभूतिवाद के धरातल पर खड़ा छायावादी कवि 1937 में 'युगवाणी' में भौतिकवाद को आत्मदर्शन का साधन बतलाता है।

स्पष्ट है कि एक ओर छायावादी कवि पंत 1930 के दशक के मध्य तक आते-आते छायावादी कल्पनाशीलता से दूर हटकर यथार्थ

के करीब आने की कोशिश करते हैं और अपनी अनुभूति को भौतिक आधार देने का प्रयत्न करते हैं, दूसरी ओर प्रेम-चेतना और नारी-चेतना के धरातल पर उत्तर-छायावादी संस्कारों से मुक्त होने का आग्रह भी लेकर आते हैं :-

"है मांसपेशियों में उसके दृढ़ कोमलता
संयोग अवयवों में अश्लथ उसके उरोज
कृत्रिम रति की है नहीं हृदय में आकुलता
उद्दीप्त न करता उसे भाव-कल्पित मनोज।"

छायावादी कवियों ने अपने प्रेम को मानसिक धरातल पर अशरीरी रूप देने का जो प्रयत्न किया, यहाँ तक आते-आते उसकी वायवीयता स्पष्ट होने लगती है छायावादी कवि का मन अब उस घेरे से बाहर निकलने के लिए आकुल हो उठता है :-

" यह भारत का ग्राम
सभ्यता संस्कृति से निर्वासित
आड़ फूँस के विवर
यही क्या जीवन-शिल्पी के घर।"

लेकिन छायावाद से प्रगतिवाद की ओर संक्रमण के संकेत 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना और प्रगतिवाद के सूत्रपात से काफी पहले निराला में मिलने लगती है। निराला 1923 में 'बादल राग' कविता की रचना करते हैं। इस कविता में उन्होंने अपनी सारी सहानुभूति और सम्वेदना उन किसानों को समर्पित की है जो अपने जीवन में प्रकृति से दो-दो हाथ करते हुए आगे बढ़ते हैं:—

"जीर्ण बाहु, शीर्ण शरीर
तुझे बुलाता कृषक अधीर
हे विप्लव के वीर
चूस लिया है उसका सार
हाड़-मांस ही है आधार।"

यहाँ पर 'जीर्ण-बाहु' और 'शीर्ण शरीर' में सौन्दर्य को तलाशना और उस सौन्दर्य को चित्रित करना छायावादी संस्कारों से लैस कवि के लिए मुश्किल है। बिना प्रगतिशील चेतना के ऐसा संभव नहीं है। इस कविता का सौंदर्य उपयोगितावाद के धरातल पर खड़ा है, जो प्रगतिवादी सौंदर्य दृष्टि के करीब है। निराला

की प्रगतिशील चेतना सिर्फ संवेदना और सहानुभूति के प्रदर्शन तक ही सीमित नहीं रही वरन् वे अपने पात्रों के जीवन में सक्रीय हस्तक्षेप भी करते हैं :-

'ठहरो ! अहो मेरे हृदय में है अमृत ।
मैं सींच दूँगा ।
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम
तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा ।"

निराला की प्रगतिशील-चेतना का सशक्त प्रमाण उनकी 'दान' कविता है, जहाँ शोषित-उत्पीड़ित वर्गों के प्रति सहानुभूति और करुणा व्यंग्य में तब्दील हो जाता है।

निराला के जीवन की विडम्बना यह रही कि वे मानवीय भी थे और गरीब भी मानवीय उदारता और गरीबी साथ-साथ नहीं चल सकती। अगर इन दोनों को साथ लेकर चलने की कोशिश की जाए तो परिणाम 'सरोज स्मृति' वाला होता है, जिसकी रचना उन्होंने 1935 में की :-

"दुःख ही जीवन की कथा रही,
क्या कहूँ आज जो नहीं कही
कन्ये! गत कर्मों को अर्पण,
कर, करता मैं तेरा तर्पण।"

निराला हारते भी हैं और अपनी हार को स्वीकारते भी हैं, लेकिन वे उस त्रासद परिणति के मानवीय कारणों की ओर इशारा करना नहीं भूलते :—

"जाना तो अर्थागमोपाय
पर रहा सदा संकुचित काय
लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ समर।"

यह निराला की प्रगतिशील मानवीय चेतना है जिसने उन्हें शोषित-उत्पीड़ित वर्ग को फटेहाल जिंदगी में झाँकने को विवश किया। पंत तो एक कदम आगे बढ़कर सामाजिक-वैषम्य के लिए उत्तरदायी शोषक तत्वों को ललकारते हैं।